

चेतना विकास मूल्य शिक्षा

कक्षा — 4

प्रकाशक

संरक्षण एवं मार्गदर्शन

ए. नागराज

प्रणेता

मध्यस्थ दर्शन (सह—अस्तित्ववाद)

लेखन

साधन भट्टाचार्य

श्रीराम नरसिम्हन

कुमार संभव, सोम त्यागी

बी.आर. अग्रवाल, अंजनी कुमार

श्रीमती सुवर्णा योगेश

## प्राक्कथन

मानवीय शिक्षा का प्राक्कथन एक आवश्यकता के रूप में हमें महसूस हुआ। क्योंकि यह पाठ्यपुस्तिका का उपक्रम पहली कक्षा से प्रस्तुत किया गया है। क्रम से परंपरागत होने तक सिलसिला बना ही रहेगा। सहअस्तित्व अपने स्वरूप में व्यापक वस्तु में ही सम्पूर्ण एक-एक वस्तु जैसा परमाणु, अणु, ग्रह, गोल, सौर व्यूह, आकाश गंगा। यह डूबी, भीगी, घिरी होने के आधार पर नियंत्रण, क्रियाशीलता और ऊर्जा सम्पन्नता प्रत्येक वस्तु में नित्य प्रमाण के रूप में देखा गया है। साथ में यह भी समझा गया है कि व्यापक वस्तु में समाहित सम्पूर्ण एक-एक वस्तुओं की अविभाज्यता नित्य वर्तमान है। यही सह-अस्तित्ववादी विश्व-दृष्टिकोण का मूल रूप है। ऐसे सहअस्तित्व नित्य प्रभावी रहना स्वाभाविक है।

सहअस्तित्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम कक्षा से अर्थात् अक्षराभ्यास से चलकर शब्दों का अभ्यास और शब्दों के अभ्यास से अर्थ का अभ्यास, अर्थों के अभ्यास के तात्पर्य में हर शब्द किसी वस्तु का, क्रिया का अथवा फल-परिणाम का नाम है। ऐसा अर्थ इंगित होना ही शब्द से अर्थ समझा गया है। इसलिए अर्थबोध करने के उपक्रम में शिक्षा विधा को अध्ययन के रूप में प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्रस्तुत हुआ। यह पठन विधि से अर्थ बोध तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसे प्रस्तावित करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि मानव सह-अस्तित्व विधि से ही समुदाय चेतना से मानव चेतना में संतुलित होना है। मानव चेतना का प्रयोजन, समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक जीने का प्रमाण है। इससे अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था की पहचान होना स्वाभाविक है।

यह तो सटीक है कि विगत विधि से जो पाठ-पठन का लक्ष्य था, उसे आगे पढ़ाने के जिल भी उपायों को खोजा गया है, वह सब सार्थक है, मूलतः मानवीय शिक्षा के अभाव वश सामुदायिकता, मतभेद, साम, दाम, दण्ड, भेद, परस्पर समुदायों की निहित अतिशोधों का विश्वास प्रयोग हो चुका है। इन सब अभिशापों से मुक्ति पाने की आकांक्षा मानव में निहित होना भी पाया गया। इसलिए मानवीय शिक्षा का निश्चयीकरण आवश्यक समझा गया है। इसे क्रियान्वयन करने की क्रमविधि से प्रस्तुत किया। मानवीय शिक्षा में मानव का अध्ययन प्रधान उद्देश्य है। इस उद्देश्य को साधक बनाने के क्रम में प्रथम कक्षा से ही सूत्रपात रूप में मूल्य संबंधी और शरीर के अवयव संबंधी शब्दों का अधिकतम चयन किया गया है। साथ में परस्पर मानव संबंधों से संबंधित शब्दों का चयन किया गया है। इसे हर बालक अथवा किशोर आसानी से पहचान पायेगा। ऐसी हमारी स्वीकृति है। यह सार्थक और सफल होना पाया गया है। भविष्य में मूल्यांकन होता रहेगा। इस विधि से सर्व शुभहोने की कामना है।

ए. नागराज

प्रणेता

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

श्री नर्मदाचंद, भजनाश्रम, अमरकंटक

जिला अनूपपुर (मध्यप्रदेश)

## भूमिका

विज्ञान शिक्षा से छात्र-छात्राओं एवं युवाओं में तर्कशक्ति का अभूतपूर्व विकास हुआ है। जिससे आस्था (बिना जाने मान लेना) की प्रवृत्ति में कमी आई है। अतः परंपरागत शैली जिसमें यह करो, यह न करो अथवा "ऐसा जीना चाहिए" आदि उपदेश विद्यार्थियों में अब प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। ऐसे में परिवारोन्मुखी, समाजोन्मुखी शिक्षा के सार्वभौम स्वरूप पर चिंतन की आवश्यकता है।

यूनेस्को ——— द्वारा अपेक्षित शिक्षा के चार स्तम्भों में मुख्य स्तम्भ ——— अर्थात् "साथ-साथ जीना सीखना" पर जोर दिया है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने मानव मूल्य शिक्षा हेतु निम्न मार्गदर्शन दिया है—

1. पाठ्यक्रम किसी भी प्रकार के अंधविश्वास, कर्मकाण्ड व पूजन पद्धति से मुक्त हो।
2. पाठ्यक्रम रहस्यवाद, सम्प्रदायवाद व व्यक्तिवाद से मुक्त हो।
3. पाठ्यक्रम "करो, न करो" आदि उपदेश न होकर तर्कपूर्ण हो, तर्कपूर्ण ढंग से इसका प्रयोग एवं विश्लेषण द्वारा परीक्षण कर सकते हो।
4. पाठ्यक्रम को आचरण में प्रमाणित किया जा सकता हो।
5. पाठ्यक्रम दर्शन आधारित हो।

आधुनिक शिक्षा को रोजगारोन्मुखी ही नहीं बल्कि परिवारोन्मुखी, समाजोन्मुखी भी होने की आवश्यकता है, ताकि हर परिवार समाधान, समृद्धिपूर्वक जी सके। समाधान का अर्थ मानव संबंधों में परस्पर तृप्ति एवं प्रकृति के साथ संतुलनपूर्वक जीना है। समृद्धि अर्थात् अभाव-मुक्त जीना इस आशा की पूर्ति के लिए मानवीय मूल्यों के शिक्षक की आवश्यकता महसूस की जाती रही है।

मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववाद) उपरोक्त सभी कसौटियों को पूरा करता है, जिसका परिचय "जीवन विद्या शिविरों" के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। मध्यस्थ दर्शन से विस्तृत चेतना विकास मूल्य शिक्षा मानव में पाँच सद्गुणों को सुनिश्चित करती है —

1. स्वयं में विश्वास
2. श्रेष्ठता का सम्मान
3. प्रतिभा एवं व्यक्तित्व में संतुलन
4. व्यवसाय में स्वावलंबन
5. व्यवहार में सामाजिकता

आज धरती एक गाँव ——— हो गयी है। अतः विश्व शांति हेतु वैश्विक नागरिक ——— अर्थात् सार्वभौम मानवीय आचरण को पहचानने की आवश्यकता है। चेतना विकास मूल्य शिक्षा के प्रकाश में सार्वभौम मानवीय आचरण, सार्वभौम मानवीय शिक्षा, सार्वभौम मानवीय व्यवस्था, सार्वभौम मानवीय संविधान का व्यावहारिक स्वरूप व्याख्यायित होता है। साथ ही "मानव में समानता" व धर्मनिरपेक्षता का व्यावहारिक स्वरूप प्रकट होता है जिससे "मानव जाति एक, मानव धर्म एक" पूर्वक जीने की राह प्रशस्त होती है।

विश्व के इतिहास में शायद पहली बार हुआ है कि संपूर्ण दर्शन को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर पहुंचाया गया हो। राज्य शासन ने कक्षा 10वीं तक अध्ययन करने वाले सभी बच्चों को सहअस्तित्व का महत्व इस दर्शन के माध्यम से सिखाने का निर्णय लिया है। यह पुस्तक इसी प्रयास का एक भाग है। हम आशा करते हैं कि शिक्षक स्वविवेक के साथ इस पुस्तक का उपयोग करके इस महती उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। जाहिर है आपके सुझावों का हमें हमेशा इंतजार रहेगा।

नंद कुमार (भा.प्र.से.)

संचालक

## लेखकीय

प्रत्येक शिशु जन्म से ही न्यायापेक्षी, सही कार्य—व्यवहार करने वाला एवं सत्य वक्ता होता है, परन्तु न्याय, सही कार्य—व्यवहार एवं सत्य से शिशु अनभिज्ञ रहता है। इन्हें समझने के लिए वह परम्परा पर, मुख्यतः शिक्षा परम्परा पर आश्रित रहता है। इस हेतु आज्ञापालन, अनुसरण, अनुकरण एवं जिज्ञासा सम्पन्न रहता है।

प्राथमिक कक्षा में प्रवेश के पूर्व ही सभी शिशु अपनी मातृभाषा को समझने व बोलने की योग्यता से सम्पन्न होते हैं एवं अपने परिवेश के प्रायः सभी कार्य—व्यवहार व वस्तुओं को पहचानते हैं। अपने परिवेश के अनुसार मान्यता व विचार संपन्न रहते हैं।

विद्यालय में प्रवेश के साथ शिक्षा में अक्षर, शब्दों एवं अंकों को पहचानने व लिखने का कार्य शिक्षा की प्रमुख वस्तु होती है जबकि सभी विद्यार्थी अनेक वाक्यों को बोलने, अनेक वाक्य बनाने में समर्थ रहते हैं। उनकी इस पूर्व योग्यता को बढ़ाने के लिए शिक्षा में स्पष्ट कार्यक्रम का अत्याभाव है फलतः शिक्षा में पर्याप्त रुचि नहीं बनती। इसी के साथ प्राथमिक स्तर पर स्वयं पढ़कर समझने—सीखने की योग्यता अधिकांश विद्यार्थियों में विकसित नहीं होती है और वे अधिकांशतः शिक्षक पर ही आश्रित रहते हैं। इसे पूरा करना ही शिक्षक की सार्थकता है।

अस्तु विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार मानवीय चेतना विकसित करने हेतु एवं शिक्षकों की सार्थकता प्रमाणित होने के उद्देश्य से 'चेतना विकास मूल्य शिक्षा' के पाठ्यपुस्तकों को लिखा गया है।

हमें विश्वास है यह पुस्तक इन अर्थों को प्राप्त करने में सफल होगा।

चेतना विकास मूल्य शिक्षा की पुस्तक प्रथम बार लिखी गई है अतः इसमें सुधार की अपार सम्भावनाएँ हैं। विद्वान अध्यापकगणों से इस हेतु सतत् मार्गदर्शन की अपेक्षा है।

लेखकगण

## प्रथम संस्करण की भूमिका

चेतना विकास मूल्य शिक्षा पर कक्षा 1 से 5 तक पुस्तक 2009 में लिखी गई।

प्रथम बार पुस्तक लिखने तथा अल्प समय में इसे पूरा करने के कारण व्याकरण संबंधी एवं टंकण संबंधी भूल भी रही। कक्षा 1 से सभी पाठ कविता में हैं। एवं कविता में तुकबंदी का अभाव था।

प्रथम संस्करण में शिक्षा की वस्तु को यथावत रखते हुये व्याकरण में सुधार किया गया है एवं कविताओं में तुकबंदी पर थोड़ा ध्यान दिया गया है। कुछ तकनीकी से संबंधित पाठों को हटा दिया गया है।

हमें विश्वास है पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सुबोध होगा।

लेखकगण

# अनुक्रमणिका

भाग	पाठ	नाम	पृ. संख्या
1. मानव लक्ष्य	पाठ 1	मानव लक्ष्य	
2. समग्र व्यवस्था	पाठ 2	अस्तित्व	
	पाठ 3	पदार्थ अवस्था	
	पाठ 4	प्राण अवस्था	
	पाठ 5	जीव अवस्था	
	पाठ 6	ज्ञान अवस्था	
3. अखण्ड समाज	पाठ 7	परिवार	
	पाठ 8	मानव संबंध	
	पाठ 9	मानव समाज	
4. सार्वभौम व्यवस्था	पाठ 10	जीवन व शरीर की क्रियाएँ	
	पाठ 11	जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना	
	पाठ 12	आवश्यकता	
	पाठ 13	समझना और देखना	
	पाठ 14	न्याय का याचक	
	पाठ 15	आज्ञा पालन	
	पाठ 16	शिक्षा	
	पाठ 17	विधि	
	पाठ 18	मानव शरीर	
	पाठ 19	व्यायाम	
	पाठ 20	पेट की सफाई	
	पाठ 21	दूरगमन	
	पाठ 22	आवर्तनशीलता	
	पाठ 23	ईंधन	

## वंदना

वंदना उनकी करें, जिनसे सुशोभित है धरा ।  
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

जिनसे दिशा हमको मिली, नित मानवीय मार्ग की ।  
पथ मिला निश्चित हमें थी, कामना जिस मार्ग की ॥  
कृतज्ञता से सौम्यता की, नित्य आयी निरंतरा ।  
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

जिनका है चिन्तन शुभ यही, कैसे हो मानव सुखमयी?  
प्रेरणा से जिनकी है, मानव का जीवन सुखमयी ॥  
श्रद्धा समर्पित जिनसे आए, मानवीय परम्परा ।  
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

सबके सुख की कामना ले, रहती जिनकी कल्पना ।  
निकली जिनसे मानवीय पथ, हेतु निश्चित योजना ॥  
पूज्यता उन हेतु जिनसे, है सुसज्जित वसुन्धरा ।  
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥  
—प्रदीप पूरक, बिजनौर (उ.प्र.)



tÁÁw vÓu

tÁÁu Sýa vÓu ytl ÁÆ rÁÁá Nën ytl ÁÆ rÁÁáqE NtÁa akÓayá qEá Nāma Nē; Æ Ntēhāā atvma Nēn Cyáv¥  
; rmSý Zauay SýE Sý tÁÁw Áa; Áa Sý wDmā ðSýa ytl ā n

; Áa Sý wDmāY; āhāyca AhmāNēn Nt EĀNēqNj āAmā; Æ ytl mēNān SýcēwDmāY Ntē; āhāyca Ahmā NēqEĀmāEĀNē  
AñSýE Nt qEā AāNā ytl qamēn kēyqNtēj Aōta āAhācēAma Nēn j Aōta Sýa AñSýE uN ytl tēAāNā; āma Sý j Aōta qEwā  
Sý j Æā; Æ i āma Nēn Cyā ZāSýE Nt āAā - Ēam Sýa sā AñmēNān CySý Nāā Sý SýE 1/2 qE Áuaā AāqE uN Đq ~ pNāma Nē  
āSý qEwā Sýl āam Sý SýE 1/2 āAā - Ēam Nāma Nēn qEwā Sý; Ōa qE i āāā āam Sý SýE 1/2 āAā - Ēam Nāma Nēn

āSýyā i 1Aā uā āSýyā Sýa uēSý Nāā Sý SýE 1/2 Sýa Nt ytl ySýmēNān SýE 1/2 rÁvmēAāNāNēn Ntāā ¥Sý kēyqE Nmē  
Nān Ōāā Aōuā Ōāā SýE 1/2 Sýa ytl AāNā ySýmēn yā - āv j Æ; Æ; Áuuāā Sý Ōāā SýE 1/2 Sýa ytl ySýmēNān SýE 1/2 Sýl  
ytl Sýa ytaōāā SýNmēNān

ytaōāā NāāqE Nā Nt; qAā; āvīuSýmā; ðSýa qNj āā ySýmēNān ytaōāā yēNā; āvīuSýmā; ðSýa qEā SýEā Sýl  
āvāo Sýa qNj āā qamēNā; Æ; āvīuSýmā Sýa qEā SýE qamēNān Cyctā- SýNmēNān ytaōāā yēNt su- tōy Nāma Nēn ytaōāā  
yēNt Sý qīā ð; Æ āvācKāmā ðyēj Aā Sýl āvāo Đq ~ pNāma Nēn ytaōāā yēNt ysā; āy tē; °p lūwNā SýE mēNā ¥Sý  
Aāyē Sýa ytl mē; Æ yNūāā SýE mēNān Cyyc; āy tē āvīway rÁma Nēn

Nt āvūāvu tēāā Sýa wāt Ōā Sý yā āvīway qā Sý kāmēNān ysā yān- yān Zayāā E NmēNān CyqNt; su SýNmē  
Nān

Nt tÁÁu Sý; vāvā wāuā qAā, āt Sā; Áa Sý wāĐqān, kāv kāmā Sý yān E NmēNān Cāā Sý ārāā Sýa ēsā tÁÁu kā  
AāNā ySýmā n Nt ysā yān- yān kāmēNān yān- yān E Nāā yN-; Đmāw SýNvāma Nēn

Cy ZāSýE tÁÁu Sýa vÓu ytaōāā yta-; su; Æ yN-; Đmāw Nēn

; āSýā tē; Áa Sý māēc āā, E qāā āamāāv E NmēNān CĀNē ¥Sý yān; Đmāw' Āāt AqēNān

; Đmāw Sýa; nēNēNāā n; āSýā tē; Áa Sý māēc wāā - E qāā Nāma Nēn Cyáv¥ Cyyc; Đmāw SýNmēNān; āSýā tē  
; Áa Sý āā - E qāā ¥wpmāē Cyān- yān Nān CyqNt 'yN-; Đmāw' SýNmēNān

; āSýā Sýa Tāu sā SýNmēNān Cyčhāvā Đnāā uā hāvā kāā sā SýNmēNān; āSýā tēNā ysā māēc āā - E qāā  
āamāāv E NmēNān; mē; āSýā Nā yrSýa; āvā Đnv Nēn Cyáv¥ CyčĐnāā uā hāvā Đnāā sā SýNmēNān

; āSýā Sýa Sýa; Æ - 2pē āāNāNē Cyáv¥ Cyyc; yāt SýNmēNān; yāt Sýa; nēNēak ySýl Sýa ēyātā āā Nān; āSýā  
Sýa āvĐmāē Nē; Æ Nēn Cyáv¥ CyčlūaqSý sā SýNmēNān Tāu lūaqSý Nēn Tāu qāEĀl sā Nēn

āt Sā Sýl Aāvāē ārvSýv °hā āAhmā Nēn qEĀmā Cytcqāā Sýl Sý 2pē āā »pvmāwN Aāvāē tēy tā kāmā Nēn Cyycqma  
j vma Nēā Sý Aāvāē tē 2pē Nēn Aāvāē tē hāvā kāā Nē Tāu Nēn

Tāu; āhāycytl tēAāNā; āma, qEĀmā ytl tē; āma Nēn yātā 1p Sýl Aāvāē āt Sā ycsā; āo Sý °hā w tkrān  
āAhācēAma Nēn qEĀmā Cytēsā hāvā Đnāā uā Tāu Nāma Nēn

uā ¥Sý āvāy qāā tē 1p Sý Sý Sý 2p Sýl »pvmāwN āvāy Sý 2pē tē 1p Sý i āvSýE; āāu Nā kāmā Nēn  
CyycuN ytl tē; āma Nēā Sý qāā tēsā hāvā kāā Nāma Nēn

Nē Cýaē tē hāvā Đnāā uā Tāu Nāma Nēn ysā āā - E qāā ¥wpmāē; āSýā tēNā sit 1/2 SýE mēNā Nē āā Sý ysā; Æ  
Tāu Nēn āSýyā sā āā uā māēc Sýa Tāu yc; vā āāNā SýE ySýmē Tāu yēN 1p āāNā ySýmēn CyycuN ytl tē; āma Nēā Sý Tāu  
tēysā Cýaē uā qāā mēN »pā Nān ysā Cýaē uā āamāāv NāqEĀmā Tāu uā hāvā Đnāā tē Sýa ēāā āāNāNēn

## qAanəvDnə

i sāmSý Nt uN qəpw ytl j Sý NAsý atSh qəNÉ wauā; æ kv SyəyEtəvm Úq tēqAanə wDnə SýNmcNēn  
atSh qəNÉ YwpyatəpycrAətsýAā sā qAanəvDnə Sý Nā NāmcNēn uctSýAā YSý rāE rAā kAāSý rāA ; AāSý wxāmsý  
rAāE NmcNēn Cyā ZāSýE cēp atSh Sýa i əp AāqSý ucysā rAāAāSý rāA ; qAā; əSýE tēpAāE NmcNēn uN qAanəSýa YSý ; əj E½  
Nēn uN ; əj E½ rAā E Nma Nēn cytēSýsā qāEwmāā AāNāNānā n Cyā SýE½ Nt CāSýa Equāā sā SýEmcNēn

Cy ZāSýE Nt uN ytl mcNAsý qAanə; wDnə Sýa ; əj E½ āāŃ j m Nānā Nēn CyčNt İuwDnə SýNmcNēn vāŃa, yāā,  
j āAā, māŃa, kDmā uçoāmY SýNvāmā Nēn oāmāsā qAanəvDnə tēNāmcNēn CāSýa ; əj E½ sā āāŃ j m Nānā Nēn

qAanə; wDnə tēSýCēZāSýE Sýl əSýuāY Nānā Nēn CāNāSýuā; əSý ŌāE Nā tAāu CāNēqNj āAamā Nēn kəyčvāŃa j İrSý  
Sýa ; æ ; əSýaxēn Nānā Nēwəp İrSý Sý qāy y¹İSýE əDnÉ Nākāmā Nēn Cyčrəv j əv Sýl saxā tēSýNā kāmā NēəSý vāŃa j İrSý  
yčəj qSý əuā n uN ; qAā; əq ; vāā AāNāNānā n Sý²prv Zauāā Sý ŌāE Nā AāAāSýa; vāā əSýuā kə ySýmā Nēn

kr Sýsā vāŃCēSýqNj āAāCēSýl ; əvİuSýmā Nānā Nēmāç j İrSý Sýəvāuā kāmā Nēn uā j İrSý Ey wDmāyčəj qSý  
kəŃ mēCyčNt vāŃa tAāmcNēn vāŃa ; æ j İrSý YSý AāYēCēSýqNj āAāCēSýwəAāvāŃ SýEmcNēn cytēSýəqāEwmāā AāNāNānā n CySýl  
āAāEāmEmā Nānā Nēn

qNāpSýa AhāqE EyteŃv āAhācēAma Nēn hməYwptāAāətsā ½v āAhācēAma Nēn Nt ; āhāycAh SýE ½v  
SýəqNj āAāmcNēn qEāmākr ½v rNēn Sýt Nāmāç; āhāycqNj āAā AāNāNāqamā, kəyčSýtēCēSýa Ayİān mr Nt wNāqāā »½v SýE  
AhmcNēn qAāāky ; æ kāmā NēEy ; æ ½v Nānā Nēn

qAāā Sý Cy ; əj E½ Sý ; əāE qE YSý uŃa rAāuā əuā Nē- CyčNt ƏZāpvr v SýNmcNēn cytēY Sý Sýl Aāvā  
tēqāāā sEā E Nma Nē; æ nāp yā sāā hāvā E Nma Nēn Cy hāvā sāā tēwauāsEā E Nma Nēn wauārəvrəçSýl mE N āAhācēAma  
Nēn kr Cy uŃa Sýəçāt tēhā kāmā Nēm r qAāā ½v Sýl ; æ E Nma Nēwəpvrəvā əY j əcēSýl ; æ n Cy ZāSýE yčNt yātāu  
½v Sýəçā qNj āAāmcNēn

; mē qNj āAāā YwəAāvāŃ SýEāā qAanəSýl əSýuāY Nānā uçəSýuāYāāEāmE YSý yā E Nma Nēn ysā qAanəSýa ; əj E½  
āāŃ j m NēwəpuN İuwDnə tēNāmcNēn

Zàà<sup>1</sup>/<sub>2</sub>ààwĐnà

qivēSyŌā tēŊt qāp wpytI j šy ŊāSy qāb - qābēSyāwāDqām SyŊmēŊāñ uēZāwDnā tēqŊj āā,kāmēŊāñ  
ZāwDnā tēj; āāSy Zākām ŊāmēŊāñ ZāwSy Zākām Syā j; āj ē%āāŊj m Ŋānā Ŋēñ

wŏa, l ăp vma uà rŭ Ƴwpi ày uà lă Sŭ Zăw wŏnà Sŭ Ză Sŭ Năn cŭ Sŭ Ōa tŭ Nt Zăw ; wŏnà ; ă qĂnê ; wŏnà tŭ  
 ; ĂmĖ Sŭ ăy t l Đăñ

Za<sup>2</sup>zavDnà Syl cSyacEa<sup>2</sup>ptwà- Nānā Nēn ¥Sý 2h<sup>2</sup>h qàà oāc- oāc rōp NāSýE wōā RĀā kāmā Nēn <sup>a</sup>N<sup>2</sup> oĀā kȳc qāo c tē  
sā wā- Nānā Nēn cȳā ZāSýāc I ā<sup>2</sup>luā ¥wlv m ā uā r wā tē sā wā- Nānā Nēn

qAanē; wDnā Syl C Sya c u a t t w a z - AāNā Nānā Nēn u c a k m Aā r o p E n m c N A E m Aā Nā r o p r Aā E n m c Nān k a y c n t a c t S y a A a t p  
S y a c e w a z - AāNā Nānā n i ē t p E h c r m Aā s ā r o p AāNā Nān c Nān u n q Aānē; wDnā ʔ w p z a z a w Dnā t p S y ; A m E Nēn

Za/a j; wDna tēYSy Vō/a j; ē ytl tē; āna Nēn kēYSy qācSya<sup>v</sup>aAqē EyteAiv, Aiv j; ē rāk j; āncNān  
rākāSya<sup>v</sup>aAqē Syceqācē<sup>a</sup>āncNān cy ZaSyē YSy qācāSij<sup>2</sup>pwaxē tē; AāSy qācāSij<sup>2</sup>yan āhacāMaNēn qācSyl yPua tēwā=  
NācāMaNēn ysā qācēYSy kēYcNāNāncNān qAanē; wDna tēYy āAāNāNān i ē tēhāvāc māc qānv Syl wDmā āSyl yPua  
tēSyācēwā= āAāNāNān uN qAanē; wDna j; ē Za/a j; wDna tēA/yēā j; mē Nēn

qAanê; wDnà tēwZaā; wDnà tēSý; 𐤀; 𐤀mÊ Nāma Nēn qē-qādyāy vncNān cȳnt tȳwĀa āSȳwā SȳNmēNān  
qAanê; wDnà tēTȳwĀa āSȳwā āNāNāma Nēn

Çy ZäSya qAanê; ä Zä/a; wDnà tètə umb māAa; ÂmÊ Đq ~ p Nəmə Nēn

qAanē; wDnā; aZa; wDnā tē; SySaSyl ytaAma sā Nāma Nēn uN ytaAma qNj aAa; wpaAawaN SyEa; Syl  
Nāma Nēn

qAanē; wDnā tēqNj aAāA; wbaAaāN SyEāA; Syl āSjua Nāma Nēn kəyqāāN 4lv Syl ; ā rNma Nēn vaNā j ār Sy Syl ; ā  
i āS āxēn Nāma Nēn

Zaŋa ; wDna tɛsa qNj ʔaAaAavaN SyEAa Syl ʔSiya Nɛma Nɛn qac Syl kɔ ʔaj ɕ qaAa Syl ; ʔ rɔma Nɛn qɔb-qac Syl  
maAaYwɔqɔaʔaʔEqE, yuʔa Syl ; ʔ rɔmɛNɛn

uaA ʔSy Nā sāt qE<sup>a</sup>AAa, Ctva itj ē; ʔE SyEva Syra ʔma ysa qācsāt yci; qAa vʔ; ʔAa jv wDmā ʔSyra<sup>a</sup>ŋʔa  
SyE vŋcNān yr Syā DwaA; vʔa; vʔa Nā rAa Eŋma Nēn CytE Syā sā qE wmaA AŋNā Nā n

[illegible]

qà<sup>o</sup>b - 5

kǎw ; wɛ̀nà

qivēSyoā; ətēkāv ; wəḡnā Šyāytl qNān kāw ; wəḡnā lāšyāVā ; ē tāyāVā CĀA Aaw ətēqNj aĀk amqNān CĀA Šyā  
; aVā ē ʔw; aj ēVā aĀal j m Nāpā Nēn

Cy SýŌā tēnt kāv ; wĐnà ¥wPZālā ; wĐnà tē ; ÂmÊ SýcytI Đan

qAanē; wDnà ƳwbZa; ; wDnà tɛtɛʉumb 3 ; hÊ qNj ɔAaNA (1) wà- (2) yPua wà- ; ɛ (3) IwyAan ; nən  
qAanē; wDnà tɛwà- ; yPua wà- ƳwbIwyAa ɔAaNA ; ɛ Za; ; wDnà tɛuɔmɔAaSiya ƳNA Nən

kāv ; wĐnā tṭṣā Zāwā ; wĐnā S̄yl mĒN ĪwyĀā S̄yua Nānā Nēn kāv ; wĐnā tṭṣā pā ālāwā:- Zālm S̄yĒ rōp Nānc NAY-wp  
cĀatcy P uā wā:- Sā Nānā Nēn

ysā kāw ; qĀā:ĒNĀā:Syġ DnāĀā Syā:qNj āĀācNĀ ; qĀā:sā:kĀā Syā:qNj āĀācNĀyWpCySyā Equā:ā SyĒmēcNĀān ; mB kāwā  
tcsā qĀānē ; wDnā ; āē Zāā ; wDnā Syā mĒN qNj āĀāāā ywāāwāā SyĒĀā:Syā āSyūā Nānā Nēn

káv ; wĐnà tɛ́Sý ávɫax vŌa/á Nana NekaZa/á ; wĐnà ; ǣ qĀanē ; wĐnà tɛ́AāNā qaua kamañ kəycaSýyā<sup>a</sup>au Sýa  
SýačĀat Ēhà kǣ ; ǣ Ey Āat yqčSýĒa kǣ mačwNā<sup>a</sup>au ; ama Nen ; Au<sup>a</sup>au Ey ÁwaAa yčZasawm ÁaNaNanañ n Sýlǣ ; i ǣp  
; aa káva tɛ́sǣ cy vŌa/á SýačNj āa ySymčNān ; mb<sup>a</sup>au, i ǣp, Sýlǣ taAw Sý ySym Sýa taAmčNān cy āSýua Sýaŋt  
'taAaAar SýNmcNān

i mb kāv ; wDnā tēqNj āĀāā, āĀāāā SyĒāā ; ā tĀāāā ucmāā āSyuaYVāā Nēn CĀā māāāā Sy ; āāē qĒ kāv Syā  
; āj Ēāā Dq~ Nāāā Nēn uē ; āj Ēāā āāēāmē rĀāēNmcNān CĀā ; āj Ēāā Sy ; āāē qĒ uēluwDnā SyāZāSyāāāā SyĒēmcNāā



ÇyãZãŞyãÊ qãÊwãÊ Şyã rãÑÊ sãÑtãÊçyÈrÃO NãmçÑãn

qawá qÉ ÉNÁwáw cysá tá'Awá Sý yluúy Úq tétak SýNmçNñ Zà'usý áfá'wptá'Aw ysá qá'wá tétá'ÉNmçNñ cy  
ZáSýá qawá Sý ysá qá'wá Sýá ytá j u tá'Aw ytak SýNvamá Nén Nt ysá tá'Aw ytak Sýl cSýacéNñ Ntá'Écysá Sýauá'wpt  
ytI Sýá eam tá'Aw ytak Ná Nén kèyçNt kásaxà raxmçNñ yçqá'wá yçNá yáhmçNñ áwúavu tésá sàxà, á'aw, áwOá'Áa  
yáhmçNñ cyá ZáSýá sà'Áa SýÉÁa, Sýçòòp qNÁ'Áa, ávHÁa, q'Á'Áa Nt ytak yçNá yáhmçNñ

áwúanI kèyç-kèyçòòp NámçNñ Á'Áa; Á'Áa Sý ZáSýá Sý Sýaué'wpt Sýváyhà' kámçNñ v'á'á Sý yán j °2p mÉN yç'wpt  
ZáyÁ'Áa má'wpsý ká'Áa Sýl áwáo sá ytI á'Ékámá Nén yá' wptytI SýÉ ysá áwúanI qá'wá wptytak Sý Sýauá' tésá'á'Áa  
SýÉmçNñ

ytak tétá'Aw j v'a- j v'a ytlá' tétÉNmçNñ yryç'pá ytlá qá'wá SýNvamá Nén cyycròòp ytlá Sýá qá'wá ytlá  
uá'pá SýNmçNñ cytSý'p qá'wá yán-yán ÉNmçNñ cyycròòp ytlá á'at uá'á SýNvamá Nén á'áw tésá v'á'á yán-yán  
átvSýÉ ÉNmçNñ áwúanI uá' Sý áv' áwúavu, É'á'á' Sý áv' j á'áo'á'v, j á'wá'atÁa Sý áv' yò'pSý, qá'Áa Sý áv' qá'Áa Sýá Zá'á  
ysá á'atwá'á átvkáv SýÉ SýÉmçNñ á'áw tét'p umb Sýx, qí'á'á'Áa wptSý'p É'á'á' Sýá Sýaué'Námá Nén

á'at yçròòp tá'Aw ytlá Sýá'Áa'É SýNmçNñ Á'á'É tét; Á'Áa Sý qá'wá qáy-qáy á'á'wá SýÉmçNñ Á'á'É Sýl ká'á'p uá' á'at  
yç; á'ósý Námá Nén Á'á'É tétSýçetá'vçNámçNñ tál'vçSýá qá'Éa sá SýNmçNñ Á'á'É Sýá'ýSý - ýSý qá'Éa ýSý á'at á'kmÁa ròòp Námá  
Nén

Á'á'É tét; Á'Áa Sý v'á'á ÉNmçNñ, Sý'pDná'á' tét; Á'Áa Sý v'á'á yán-yán qNñ mçNñ kèyç- h'w Sý tá'Áa tét yá'SýmSý  
swÁa tét cyáv' uçDná'á á'at yçmá'Áa tétòòp NámçNñ uNál'qNñ Á'Áa Sýl yò'pSý sá á'á'w Sýl má'Áa tét; á'ósý Námá Nén Á'á'É Sý v'á'á  
á'at Sý v'á'á Sýl mÉN átvkáv SýÉ ÉNmçNñ Á'á'É tétá'wúavu, j á'áo'á'v, yò'pSý, qá'Áa, áwúan ywá kèyçSýauá'Sýá'wpt  
y'j á'vSý SýÉmçNñ

Á'á'É tét; á'kávSýá Sý áv' tétu Úq yçÉ'á'á NámçNñ É'á'á' tétòòp qétá'á' tétÉ'qá'Áa Námá Nén Á'á'É j á'á' j á'  
yò'pSýá'ó'á' j áy-qáy Sý á'atá'wpt; Áu Á'á'É yçkòòp Námá Nén cyáv' uNál'á'á'at u Sýaué; °2p mÉN Námá Nén

Á'á'É tét sà'Áa, Á'á' ká'á' wDmá'ý'á'at yçNá j á'á' Né'wpt Á'á'É tétÉ'qá'Áa Námá wá'á wDmá'kèyçv'á'á, t'á'Áa SýÉ'á'á'É  
á'atá' tétqNñ má Nén

वस्तुओं को हम आँखों से देखते हैं। जैसे हमने एक आम के पेड़ को देखा। उस पेड़ की लम्बाई, चौड़ाई और उँचाई हमें दिखता है। साथ ही उसका रंग, उसके पत्ते, फल—फूल भी दिखते हैं। इसे हम रूप भी कहते हैं। यह आँखों से दिखता है।

हमें यह भी पता है कि आम खट्टा या मीठा होता है। यह आँखों से नहीं दिखता है। आम को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि यह खट्टा या मीठा है। आम को जीभ में रखकर ही यह पता चलता है। इसे गुण कहते हैं। रूप का अर्थ है आकार और आयतन। आम खट्टा है या मीठा इसे आम के रूप से नहीं बताया जा सकता है।

रूप एवं गुण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पहचान पाते हैं। आँख, नाक, कान, जीभ एवं त्वचा ज्ञानेन्द्रियां हैं।

अपने अभिभावकों के प्रति कृतज्ञता का भाव होता है। इसी प्रकार अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं के प्रति भी कृतज्ञता का भाव होता है। बड़े भाई—बहनों के प्रति सम्मान का भाव होता है। भाव आँखों से नहीं समझा जा सकता है।

इसी प्रकार बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो आँखों से नहीं दिखती हैं, परन्तु हमें समझ में आता है।

इससे स्पष्ट होता है कि समझ हमारी आँखों से अधिक है। समझ हमारी ज्ञानेन्द्रियों से भी अधिक है।

प्रत्येक शिशु का जन्म परिवार में होता है एवं वह परिवार के संरक्षण में ही पलता बढ़ता है। शिशु सर्वप्रथम अपनी माता के साथ संबंध पहचानते हैं एवं माता पर विश्वास करते हैं। माता उदारता के साथ संतान का पालन करती है, खिलाकर खाती है एवं सुलाकर सोती है। माँ, शिशु की प्रत्येक आहट पर सजग रहती है। माता की ममता शिशु को संबंध की पहचान कराती है। इस प्रकार के निर्वाह में माता एवं शिशु दोनों को सुख मिलता है। यह माता और संतान के संबंध में न्याय है।

माता-पिता संतान का पोषण संरक्षण करते हैं। इसके लिए आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराते हैं। शिशु की शिक्षा का प्रबंध करते हैं। शिशु को घर के कार्य एवं सभी आवश्यक कार्य सिखाते हैं। परिवार एवं समाज के कार्यक्रमों में साथ रखते हैं। शिक्षा, सेवा एवं श्रम करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार के निर्वाह से उभय पक्ष को सुख मिलता है। यह माता-पिता एवं संतान के संबंध में न्याय है।

परिवार के प्रत्येक सदस्य से शिशु न्याय की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक सदस्य से सहयोग की अपेक्षा रखता है। किसी प्रकार की भूल होने पर अपने से बड़े के द्वारा सुधार की अपेक्षा रखता है। शारीरिक कष्ट होने पर सांत्वना एवं सेवा की अपेक्षा रखता है। किसी भी क्रिया को सीखने की इच्छा होने पर अपने से बड़ों से उसे सिखाने की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार की अपेक्षा को न्याय की अपेक्षा कहते हैं। यह प्रत्येक शिशु में जन्म से ही होता है। इसलिए प्रत्येक शिशु जन्म से ही न्याय का याचक होता है।

शिशु न्याय का याचक होता है परन्तु न्याय नहीं जानता है। इसलिए कभी अच्छा कभी बुरा व्यवहार करता है। माता पिता एवं अध्यापक अध्यापिका के सान्निध्य में न्याय समझता है, एवं न्याय करने में सक्षम होता है।

शिशु न्याय को समझ सके एवं वयस्क होकर प्रत्येक मानव के साथ न्याय कर सके यह शिशु पालन की मूल कामना होती है। इसलिए घर में अभिभावक, बड़े भाई-बहन एवं विद्यालय में अध्यापक-अध्यापिका का न्याय समझाते हैं।

मानव मानव के संबंध को समझना एवं प्रत्येक मानव के साथ संबंध के अनुसार व्यवहार करना न्याय कहलाता है।



आज्ञा का अर्थ है किसी के द्वारा दिया गया आदेश। पालन का अर्थ होता है— उसके अनुसार करना। इस प्रकार आज्ञा पालन का अर्थ है आदेश को मानना एवं उसके अनुसार करना। जैसे माँ शिशु को कहती है 'मंजन करो'। शिशु माता की बात मानकर मंजन करता है। शिशु ने माता की बात को माना यह आज्ञा पालन है।

माता—पिता, अध्यापक एवं अध्यापिका अच्छे कार्य एवं अच्छे व्यवहार को समझे एवं सीखे रहते हैं। समझे हुए को समझाने एवं सीखे हुए को सिखाने के लिए अभिभावक आज्ञा देते हैं। इनकी आज्ञा पालन करके शिशु सीखते एवं समझते हैं। अध्यापक एवं अध्यापिका विद्यार्थी के लिए आवश्यक व्यवहार एवं कार्यों को समझाते हैं एवं सिखाते हैं। समझाने सिखाने के लिए आज्ञा देते हैं एवं शिशु आज्ञा पालन करते हैं।

छोटे शिशु जो बोलने में पूरी तरह सक्षम नहीं होते एवं पूरी भाषा भी नहीं समझते, वे आज्ञा पालन के द्वारा ही सीखते हैं। प्रत्येक शिशु के लिए माता—पिता का आज्ञा पालन एवं विद्यार्थी के लिए अध्यापक—अध्यापिका का आज्ञा पालन अनिवार्य है।

शिक्षा के तीन भाग होते हैं— समझना, सीखना और करना।

1. समझना— निरंतर रहने वाली वास्तविकता को जानना, समझना कहलाता है। जैसे मानव—मानव संबंध, मानव एवं प्रकृति का संबंध तथा नियम।

मानव का मानव से संबंध होता है। इसी कारण शिशु बड़े होते हैं एवं समझदार बनते हैं। माता—पिता एवं अध्यापक—अध्यापिका के साथ संबंध को समझकर स्वीकार करने से यह उपलब्धि होती है।

मानव एवं प्रकृति का संबंध भी निरंतर एक जैसा रहता है। जैसे मानव वायु से श्वास लेता है। प्रकृति की वनस्पति एवं जल से शरीर का पोषण करता है। प्राकृतिक वस्तुओं के आपस के संबंध कभी नहीं बदलते। निरंतर एक जैसा रहते हैं। इन्हे हम नियम कहते हैं। जैसे पानी ढाल की ओर बहता है। सूर्य प्रतिदिन पूर्व दिशा से निकलता दिखाई देता है।

2. सीखना— सीखने के लिए बहुत सारी क्रियाएँ होती हैं। इन्हे अभ्यास पूर्वक सीखा जाता है। जैसे पढ़ना, लिखना, भाषा बोलना, साईकिल चलाना, गीता गाना, वाद्ययंत्र बजाना, गाड़ी चलाना, कम्प्यूटर चलाना। सीखने के लिए प्रथम क्रियाओं को देखते हैं एवं स्वयं उसे करने का अभ्यास करते हैं। इस कार्य में सीखे हुए लोग सहयोग करते हैं। जैसे साईकिल चलाने के लिए पिता एवं बड़े भाई—बहन सहयोग करते हैं।

3. करना— उनके प्रकार के कार्य प्रतिदिन मानव समाज में किए जाते हैं। इस कार्य को अध्ययन पूर्वक करना बनता है। जैसे पेड़ उगाने के लिए मिट्टी खोदना एक आवश्यक कार्य है। प्रथम प्रयास में ही खोदने में असफलता मिल जाती है परन्तु इससे अधिक देर तक खोदने में सफल नहीं होते। प्रतिदिन अभ्यास करने पर पूरी मात्रा में कार्य करने में सफलता होती है।

मानव समाज में अनेक प्रकार के व्यवसाय किए जाते हैं। व्यवसाय के द्वारा मानव शरीर की आवश्यकता पूरी होती है। अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए व्यवसाय सीखा जाता है। भोजन पकाना, धान उगाना, भवन निर्माण, यंत्र सुधारना ये कार्य हैं।

एक मनुष्य के लिए समझना सीखना एवं करना अनिवार्य है। इसके लिए शिशु काल से शिक्षा दिया जाता है।

विधि का अर्थ है तरीका। प्रकृति में पानी एक प्रकार से मिलता है। प्रत्येक स्थान पर पानी इसी प्रकार से मिलता है। नीम का वृक्ष भी एक ही प्रकार से पाया जाता है। बाघ एवं अन्य पशु भी एक ही तरीके से रहते हैं। इन्हे कुछ सीखाना नहीं पड़ता। ये सतत एक जैसे रहते हैं। इनका आचरण निश्चित रहता है। ये व्यवस्था में होते हैं।

किन्तु मानव के साथ ऐसा नहीं है। एक शिशु को बाल्यकाल से ही जीने का सही तरीका सीखाया जाता है। समझे एवं सीखे बिना मानव सुखी होकर जी नहीं सकता। सभी मानव साथ-साथ जीकर सुखी रहे इस उद्देश्य से जीना विधि कहलाता है। इसे ही जीने का सही तरीका कहते हैं।

मानव विधि या जीने का तरीका समझता है और समझकर करता है, क्योंकि मानव ज्ञानावस्था में है। मानव में समझने की आवश्यकता और संभावना है। पत्थर, पेड़-पौधे एवं जीवों को विद्यालय जाने की आवश्यकता नहीं। केवल मानव को विद्यालय जाने की आवश्यकता है।

परिवार में जीते समय केवल एक व्यक्ति के लिए कार्यक्रम नहीं बनता, सभी की खुशी के लिए कार्यक्रम बनता है। सभी सुखी रहे यह व्यवस्था में होता है। व्यवस्था में जीने का तरीका ही विधि है। विधि के मुख्यतः दो भाग हैं। 1. मानव संबंध। इसे न्याय भी कहते हैं। 2. मानव एवं शेष तीनों अवस्था के साथ जीने का तरीका। इसे प्राकृतिक नियम कहते हैं।

परिवार एवं समाज में जीने का तरीका न्याय कहलाता है। मानव एवं शेष प्रकृति के साथ जीना व्यवसाय के लिए होता है। सभी व्यवसाय प्राकृतिक नियम से होने पर मानव सुखी रहता है।

विधि को समझना एवं जीना मानव के लिए निरंतर उत्सव है।

हमारा शरीर मुख्य रूप से हड्डियों का ढाँचा है। शरीर की पूरी लम्बाई हड्डियों से ही है। हाथ, पैर, सिर एवं धड़ ये सभी हड्डियों से ही बने हैं। हड्डियों के उपर मांस होता है और मांस चमड़ी से ढका होता है। चर्म (चमड़ी) शरीर का बाहरी आवरण होता है। चर्म एक प्रकार का रक्षा कवच होता है।

शरीर में रक्त होता है। जब कभी चोट के कारण चर्म परत क्षतिग्रस्त होता है तब रूधिर (रक्त) बाहर आ जाता है। घाव बड़ा होने पर रूधिर बहने लगता है।

अपने छाती पर बाँए ओर पर हाथ रहने पर धक—धक की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसे धड़कन कहते हैं। धड़कन वाले अवयव को हृदय कहते हैं। हृदय के धड़कने से पूरे शरीर में रक्त दौड़ते रहता है। हृदय से रक्त पूरे शरीर में पहुँचने के लिए पतली—पतली नलियाँ होती हैं। इन्हें धमनी कहते हैं। शरीर के अंतिम छोर तक पहुँचकर रक्त पुनः हृदय में वापस पहुँचता है। जिन नलियों से रक्त वापस हृदय में पहुँचता है उन्हें शिरा कहते हैं। हृदय हर समय धड़कता रहता है और रूधिर भी हर समय शरीर में दौड़ता रहता है।

हम सभी श्वास लेते हैं। श्वास लेने पर हमारी छाती फैलती है और श्वास छोड़ने पर छाती सिकुड़ती है। किसी भी स्वस्थ व्यक्ति को देखकर इसे समझा जा सकता है। श्वास लेने एवं छोड़ने वाले अवयव को फेफड़ा कहते हैं। श्वास लेने पर फेफड़ों में वायु भरती है और फेफड़े फैल जाते हैं। श्वास बाहर करने पर फेफड़ों से वायु बाहर निकल जाती है। इससे फेफड़े सिकुड़ जाते हैं। फेफड़े के द्वारा श्वास क्रिया हर समय होती रहती है। अधिक कार्य करने पर या दौड़ने पर श्वास क्रिया की गति बढ़ जाती है। नाक से श्वास लेते हैं।

हम जो भोजन करते हैं। वह एक नली से होकर पेट में जाता है। इस नली को आहार नली कहते हैं। पेट में पहुँचकर भोजन का पाचन होता है। आहार का उपयोगी भाग शरीर में रहता है। शेष भाग एक नली के द्वारा बाहर निकल जाता है। बाहर निकलने वाली वस्तु को मल कहते हैं।

हम जो पानी पीते हैं वह भी आहार नली से पेट में पहुँचता है। पाचन में पानी का उपयोग होता है। कुछ पानी शरीर में रहता है एवं शेष पानी एक अन्य नली द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। उसे मूत्र कहते हैं। पानी का कुछ भाग स्वेद (पसीना) के रूप में भी बाहर निकलता है।

ये सभी कार्य शरीर में होते रहते हैं। इन कार्यों का ठीक होना ही स्वस्थ शरीर कहलाता है। इस कार्य में व्यतिरेक (गड़बड़ी) होना रोग कहलाता है।

उपरोक्त सभी अंगों के कार्य निश्चित हैं। इनके कार्य बदलते नहीं हैं। हमेशा एक जैसे बने रहते हैं। यह व्यवस्था है। इस प्रकार हम यह समझते हैं कि शरीर एक व्यवस्था है।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अनुकूल भोजन, स्वच्छता, व्यायाम एवं विश्राम की आवश्यकता होती है।

शरीर के विभिन्न अंगों को निश्चित प्रकार से चलाना व्यायाम कहलाता है। पैदल चलना एक प्रकार का व्यायाम है। दौड़ना, सामने एवं पीछे की ओर झुकना भी व्यायाम है। इसी प्रकार अनेक व्यायाम होते हैं।

व्यायाम करने का उद्देश्य शरीर को श्रम द्वारा थकाना है। शरीर के थकने पर विश्राम किया जाता है। श्रम करने पर शरीर थकता है। कुछ देर तक विश्राम करने पर हम पुनः श्रम कर सकते हैं।

कुछ दिन तक लगातार व्यायाम करने पर शरीर की शक्ति बढ़ जाती है। शरीर और अधिक श्रम करने योग्य हो जाता है। जैसे यदि हम विद्यालय के खेल के मैदान में दौड़कर एक चक्कर लगाएँ। ऐसा कुछ माह करने पर शरीर की क्षमता बढ़ जाती है। हम दो चक्कर लगाने योग्य हो जाते हैं। प्रतिदिन दो चक्कर लगाना शुरू करते हैं। कुछ माह बाद हम तीन चक्कर लगाते हैं तब तक थकते नहीं। इसी प्रकार सभी खिलाड़ी अपने शरीर की शक्ति को बढ़ाते हैं।

व्यायाम करने से शरीर की श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ जाती है। शरीर का अधिक पोषण होता है। प्रश्वास द्वारा शरीर की सफाई भी अधिक होती है। व्यायाम करने से हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। शरीर में रक्त तेजी से दौड़ने लगता है। इससे शरीर के प्रत्येक अंग अवयव को अधिक रक्त मिलता है। उन अंग अवयवों का पोषण होता है।

व्यायाम करने से पसीना अधिक मात्रा में निकलता है। शरीर की सफाई होती है। व्यायाम करने से शरीर का तापमान बढ़ता है। पसीना निकलने पर शरीर का तापमान बढ़ता है। इस प्रकार बार-बार होने पर शीत एवं गर्मी सहने सहने की शक्ति भी बढ़ती है। इससे ठंड या गर्मी में अस्वस्थ नहीं होते। भोजन के पश्चात् या पानी पीकर व्यायाम करने से पाचन क्रिया बिगड़ जाती है। पेट में पीड़ा भी होती है। अतः भोजन के बाद 2-3 घंटे तक कोई व्यायाम नहीं करना चाहिए। यदि अधिक भोजन किए हो तो चार घण्टे बाद ही व्यायाम करना चाहिए।

इस प्रकार व्यायाम से शरीर स्वस्थ एवं बलवान बनता है। रोगों से बचने की संभावना बढ़ती है। बड़े होकर हम अधिक श्रम एवं सेवा कर सके, ऐसा शरीर बनता है।

शरीर में पाचन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। पाचन द्वारा शरीर को पोषण मिलता है। इससे शरीर को शक्ति मिलती है, शरीर में वृद्धि होती है एवं शरीर स्वस्थ बना रहता है।

हम मुँह से भोजन करते हैं। मुँह द्वारा भोजन पेट में पहुँचता है। पेट में इसका पूरा पाचन होता है। पचे हुए भोजन का उपयोगी भाग शरीर में रहता है। शेष भाग मल मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है।

मुँह में भोजन को चबाया जाता है जिससे आहार के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं। ये छोटे छोटे टुकड़े पेट में पहुँचते हैं। वहाँ पाचक रस आकर मिलता है। इसके संयोग से भोजन पचता है।

पाचन के लिए सहयोगी एवं आवश्यक रस को पाचक रस कहते हैं। इसका निर्माण शरीर में ही होता है। ऐसी बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनको सेवन करने से पाचक रस निर्माण ठीक से होता है। इन्हे पाचक वस्तु या मसाला कहते हैं। इसमें सौंफ, जीरा, धनिया, मेथी, अदरक, लहसून, अजवाइन, हींग प्रमुख हैं।

पाचन के पश्चात् शरीर के लिए अनुपयोगी वस्तुएँ मल-मूत्र के रूप में बाहर निकल जाती है। भोजन में ऐसे अनेक वस्तुएँ होती हैं जो मल निष्कासन की क्रिया को ठीक रखते हैं। इनमें पत्ते वाले भाजी, गेहूँ व दालों के छिलके प्रमुख हैं। जब भोजन में इस प्रकार की वस्तुओं की कमी हो जाती है, पेट की सफाई ठीक से नहीं हो पाती है। पेट ठीक से साफ नहीं होने से धीरे-धीरे भोजन पचाने वाली क्रिया भी मंद पड़ जाती है। अतः स्वस्थ रहने के लिए पेट की सफाई भी एक प्रमुख भाग है।

पाचन से बचा हुआ पदार्थ शरीर के लिए अनुपयोगी होता है। वह शरीर में अधिक देर तक जमा रहने पर कई रोग पैदा करता है। इसलिए हम पेट की सफाई पर विशेष ध्यान देते हैं।

प्रातः काल उठकर पानी पीने से पेट की सफाई ठीक से होती है।

भोजन में मेथी का प्रयोग पेट की सफाई में वृद्धि करती है। रात्रि में त्रिफला का थोड़ी मात्रा में सेवन से पेट ठीक से साफ होता है। हर्षा, बहड़ा और आँवला को मिलाकर त्रिफला तैयार किया जाता है। हमारे देश में अधिकांशतः भाग में ये वृक्ष पाये जाते हैं।

मानव पहले से ही एक स्थान से दूसरे स्थान जाते रहे हैं। सर्वप्रथम पैरों से चलकर यात्रा करते थे। दूर-दूर तक की यात्रा पैदल ही करते थे। वन में विचरण करते हुए पशु अधिक गति से चलते थे। अनेक पशु मानव से अधिक बलशाली होते हैं जैसे—हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, ऊँट आदि। कुछ समय पश्चात् मानव ने कुछ पशुओं का पालना प्रारंभ किया। वह इन्हें दूध, ऊन, चमड़े के लिए पालता था। साथ ही पशुओं के पीठ पर बैठकर यात्रा करने लगा। पशुओं की गति अधिक तीव्र से होने के कारण यात्रा की गति बढ़ गई। पहले की तुलना में दो से चार गुना दूरी एक दिन में तय करने लगा। तेज गति से चलने के लिए घोड़ा, हाथी, एवं ऊँट प्रमुख पशु माने गए। मरुभूमि पर उंट सर्वाधिक उपयोगी पाया गया। तब से आज तक इन पशुओं का यातायात (दूरगमन) के लिए प्रयोग किया जाता है।

जैसे ही मानव ने चक्का बनाना सीख लिया, यातायात काफी सरल हो गया। गाड़ी बनाकर 2—4 या और अधिक पशुओं से इसे खींचवाने का कार्य किया। इस गाड़ी या रथ में बैठकर पूरा परिवार यात्रा कर सकते थे। बहुत अधिक भारी सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी समर्थ हुए। चक्का बनाने के बाद सायकल बना। इसमें मानव स्वयं चलाकर एक या दो व्यक्तियों को बैठाकर अधिक तीव्र गति से चलने लगा।

इसी बीच एक घटना घटी। ईंजन का आविष्कार हुआ ईंजन में ईंधन का प्रयोग करके शक्ति प्राप्त की गई एवं इस शक्ति से चक्के घुमाया गया। मनुष्य या पशु की शक्ति से घूमने वाला चक्का अब ईंधन से घूमने लगा। ईंधन में कई प्रकार की लकड़ियाँ, वनस्पति तेल एवं खनिज तेल आते हैं। आगे चलकर खूब बड़े-बड़े ईंजन बने। एक साथ पाँच दस से लेकर ट्रेन में हजार व्यक्ति तक एक साथ यात्रा करने लगे। यात्रा की गति भी बहुत बढ़ गई मानव के पैदल यात्रा करने से 40—50 गुना अधिक गति से यात्रा होने लगी। एक मनुष्य जितना भार उठाकर चल सकता है। उससे लाखों गुना भारी सामान आज ट्रक के द्वारा ढोया जाता है।

इसी ईंजन का प्रयोग पानी पर चलाने वाले यान में किया गया। इन्हें जलयान कहा जाता है। इससे पानी में भी यात्रा अधिक गति से होने लगी।

वायुयान के आविष्कार के पश्चात् यात्रा की गति सर्वाधिक बढ़ी। आज मानव वायुयान के द्वारा पैदल चलने से 100 से 200 गुना अधिक गति से यात्रा करने लगा।

भूमि पर यातायात के लिए मिट्टी के सड़क, कोलतार के सड़क, सीमेंट के सड़क एवं रेल की पटरियाँ बिछाई जाती हैं। जलयान एवं वायुयान से यात्रा मार्ग को निर्धारित किया जाता है। इसके लिए दिशा सूचक यंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

अग्नि की खोज होने के पश्चात् मनुष्य के जीने में इसका उपयोग बढ़ता गया। भोजन पकाने के लिए एवं शीत से बचने के लिए प्रतिदिन इसका उपयोग होने लगा। आज यह मनुष्य के लिए अनिवार्य वस्तु है।

अग्नि के खोज के साथ ही मनुष्य अग्नि प्राप्त करने के सरल तरीके ढूँढ़ने लगा। इसके लिए सर्वसुलभ वस्तु लकड़ी एवं सूखे पत्ते हुए। कई वनस्पतियों के सूखे फल एवं गुठली भी इसके लिए उपयोगी पायी गई। पशुओं के गोबर को सुखाकर कण्डे या उपले के रूप में उपयोग किया जाता है। अग्नि प्राप्त करने की वस्तुओं को ईंधन नाम दिया गया। इन्हीं वस्तुओं से मनुष्य हजारों वर्षों से गर्मी प्राप्त कर रहा है।

धीरे-धीरे मानव को यह समझ में आया कि कुछ सूखे फल एवं बीज अधिक देर तक गर्मी देते हैं एवं अधिक मात्रा में गर्मी देते हैं। इन्हीं बीजों को दबाकर मानव ने एक द्रव्य प्राप्त किया एवं देखा कि इस द्रव्य में जलने का गुण अधिक है। इसे वनस्पति तेल कहा गया। इसी क्रम में गाय, भैंस, भेड़, बकरी जैसे पालतू पशुओं के दूध से भी ऐसी तैलीय वस्तु प्राप्त किया गया। इसे घी या घृत नाम दिया गया।

इस प्रकार हजारों वर्षों तक मनुष्य अपनी ईंधन की आवश्यकता वनस्पतियों द्वारा पूरी करता रहा। द्वितीय स्तर पर पशुओं से प्राप्त ईंधन रहा। उन दिनों धरती वनों से भरी थी एवं एक वृक्ष की लकड़ी कई दिनों या महीनों तक उपयोग में आती थी। इसमें एक चीज अच्छी नहीं थी, वह था धुँआ मनुष्य इस धुँए से बचने का उपाय ढूँढ़ता रहा और एक दिन इसका उपाय भी प्राप्त कर लिया।

मानव ने देखा कि लकड़ी जलते समय प्रारंभ में धुँआ अधिक निकलता है एवं धीरे-धीरे कम हो जाता है। अंगार में धुँआ नहीं होता है। अब मनुष्य ने जलते हुए अंगार को पानी डालकर बुझा दिया, मिट्टी डालकर बुझा दिया। वह बुझा हुआ अंगार काले रंग के पदार्थ के रूप में प्राप्त हुआ। उसे कोयला नाम दिया गया। इसमें धुँआ बहुत ही कम होता था। इसकी आग अधिक देर तक गर्मी देती थी एवं यह शीघ्रता से जलता था। इस सफलता से मानव और भी अच्छे ईंधन की खोज में जुट गया।

इसी क्रम में मिट्टी खोदते समय एक काली वस्तु मिली जो लकड़ी के कोयले जैसी दिखती थी। इसे जलाकर देखा गया। यह शीघ्रता से जली, खूब गर्मी मिली एवं बहुत देर तक गर्मी प्राप्त हुई। चूँकि इसे खोदकर निकाला गया था इसलिए इसे खनिज कोयला नाम दिया गया।

इसके पश्चात् मनुष्य भू-गर्भ से अन्य खनिज-ईंधन प्राप्त करने के प्रयास में लग गया। इसी क्रम में खनिज तेल एवं यूरेनियम प्राप्त किया।

आज मानव के ईंधन का मुख्य स्रोत खनिज ही है। साथ ही मानव यह भी समझ चुका है कि खनिज ईंधन सीमित मात्रा में है और ये तेजी से समाप्त हो रहे हैं। इन खनिज ईंधनों के प्रयोग से वातावरण दूषित हो रहा है, भयंकर रोग हो रहे हैं।

विकल्प के रूप में सूर्य के ताप को ईंधन के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इसे अक्षय ऊर्जा या ईंधन का निरन्तर स्रोत मानकर अनेक शोधकार्य किए जा रहे हैं।



## lkkB & 22 vkoru 'khyrk

समुद्र का पानी भाप बनकर उपर जाता है। भाप बादल बनता है। बादल ही पानी के रूप में धरती पर बरसता है। वर्षा के जल छोटे-छोटे नालों से होते हुए नदी में पहुँचता है। वर्षा का जल समुद्र में वापस पहुँच जाता है। इस पूरे चक्र को आवर्तन कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया को आवर्तशील क्रिया कहते हैं।

हम यह समझ सकते हैं कि अवर्तनशील क्रिया में पानी नष्ट नहीं होता। उतना ही पानी बना रहता है एवं विभिन्न स्थानों से गुजरता रहता है।

पेड़-पौधे भूमि से खनिज एवं अन्य लवण और जल को अवशोषित करते हैं। वायुमंडल से आवश्यक वायु भी ग्रहण करते हैं। ये सभी पदार्थ अवस्था की वस्तुएँ हैं। इनसे पेड़-पौधे पुष्ट होते हैं। पेड़-पौधों की वृद्धि होती है। कुछ समय के पश्चात् पेड़ की पत्तियाँ झड़कर नीचे गिरते हैं। पेड़ की डाली एवं तने भी सूख कर नीचे गिरते हैं। ये सूख कर, सड़कर, खाद बन जाते हैं। अर्थात् ये पुनः पदार्थावस्था में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ अवस्था प्राणावस्था में एवं प्राणावस्था, पदार्थ अवस्था में बदलते रहते हैं। यह भी आवर्तनशील क्रिया है।

आवर्तन का अर्थ है बार-बार करना। हम चलना सीखने के पश्चात् बार-बार चलते हैं। सभी अच्छी बात को समझने एवं सीखने के पश्चात् उसे दोहराते रहते हैं।

मानव जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है। शरीर स्वतः क्रिया करता है और मैं (जीवन) जानबूझकर क्रिया करता हूँ।

अपना अध्ययन करना मेरे लिये आवश्यक है। अपना अध्ययन करने पर हम अपनी आवश्यकता को ठीक से पहचान पाते हैं और उसकी पूर्ति करते हैं। हमारी आवश्यकताएँ दो प्रकार की हैं। भोजन, वस्त्र, आवास, औषधि, कुर्सी, मेज, सायकल, कार। ये एक प्रकार की आवश्यकता है। शरीर को भूख लगती है, भोजन से भूख मिटती है। शरीर को गर्मी—ठंडी लगती है। वस्त्र से शरीर का बचाव होता है। आवास भी शरीर का बचाव करता है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए हम इन वस्तुओं की व्यवस्था करते हैं। रोगी होने पर औषधि की आवश्यकता होती है। शरीर द्वारा कोई कार्य करने के लिए कुर्सी, मेज, सायकल, जैसे कई वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। इन वस्तुओं से अपना कार्य आसानी से कर सकते हैं। यदि मुझे अपने गाँव के पास के गाँव में जाना हो तो सायकल पर्याप्त है, किंतु यदि मुझे दूर गाँव जाना हो तो मोटर सायकल या रेलगाड़ी की आवश्यकता होती है। किसी दूसरे देश जाने के लिए वायुयान की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार शरीर की सीमा को पहचानते हुए हम अनेक यंत्रों का प्रयोग करते हैं। कील गाड़ने के लिए हथौड़े का प्रयोग करते हैं। हाथ से कील गाड़ेंगे तो कील नहीं गड़ेगा, हाथ घायल हो सकता है।

साधनों के प्रयोग से हम अपना समय बचा पाते हैं एवं कम थकान से अधिक कार्य कर पाते हैं। कई कार्य शरीर की क्षमता से बाहर के होते हैं जैसे बहुत सूक्ष्म वस्तु को देखने के लिए सूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रोस्कोप) का प्रयोग करते हैं। दूर की वस्तु देखने के लिए दूरदर्शी यंत्र का प्रयोग करते हैं। इसमें दूरदर्शन एवं इंटरनेट आते हैं। दूर की ध्वनि सुनने के लिए दूरभाष यंत्र जैसे फोन, मोबाइल का प्रयोग करते हैं। इन साधनों के द्वारा व्यवहार एवं कार्य करना सरल हो जाता है।

इस प्रकार की अनेक वस्तुएँ हैं। क्या हमारी आवश्यकता मात्र यही है? या इनसे भिन्न प्रकार की वस्तुएँ भी हमारी आवश्यकता है? ये सभी शरीर से जुड़ी हुई आवश्यकता है। मेरी (जीवन की) आवश्यकता इनसे अलग प्रकार की है।

जब कोई मुझे प्यार करता है, मेरा ध्यान रखता है, मुझसे ठीक से बात करता है तो मुझे अच्छा लगता है। जब कोई बात मुझे समझ में आती तो मुझे अच्छा लगता है। ये भी मेरी आवश्यकता है। मेरी (जीवन की) आवश्यकता समझ और भाव से पूरी होती है। मेरी (जीवन की) आवश्यकता सुख है। शरीर की आवश्यकता अन्य वस्तुएँ हैं। माँ मुझे भोजन कराती है। इससे मेरा पेट भरता है और माँ के प्यार से मैं तृप्त होता हूँ। मुझे अच्छा लगता है।

शरीर को जो भी आवश्यक होता है वह एक समय के लिए आवश्यक होता है वही दूसरे समय के लिए अनावश्यक हो जाता है। जैसे भूख लगने पर भोजन चाहिए। पेट भरने पर भोजन नहीं चाहिए। या ठंड में ऊनी कपड़े चाहिए, गर्मी में नहीं। कहीं आने जाने के लिए वाहन चाहिए, सोने के लिए नहीं। किन्तु सभी मुझे प्यार करें, यह आवश्यकता निरंतर बनी रहती है।

इससे एक बात स्पष्ट होता है कि जीवन की आवश्यकता निरंतर है एवं शरीर की आवश्यकता सामयिक (कभी—कभी) है।

यदि कोई हमसे पूछे कि कितनी रोटी खाओगे? एक, दो या चार ? तो हँकर, जैसी भूख होती है उत्तर देते हैं। इस उत्तर को नापतौल एवं गिन सकते हैं। इसी प्रकार कपड़े, आवास, इन सबको गिन सकते हैं। किन्तु कितना प्यार चाहिए ? एक किलो ? दो किलो ? इसे सुनकर हँसी आती है। जीवन की आवश्यकता में मात्रा नहीं होती है।

निष्कर्ष है कि शरीर की आवश्यकता सामयिक और मात्रात्मक है। जीवन की आवश्यकता निरंतर और गुणात्मक (मात्रा की बात नहीं हो सकती) है। यह समझ और भाव से पूरी होती है।

मैं जीवन हूँ। शरीर को चलाता, उठाता, बैठाता हूँ। मैं शरीर को चलाता हूँ। शरीर मेरे अनुसार चलता है। मैं जानने बूझने वाला हूँ निर्णय लेने वाला हूँ। शरीर मेरे अनुसार चलता है। शरीर पर मेरा पूरा नियंत्रण है, मैं शरीर को नियंत्रित करता हूँ।

मैं क्रियाशील रहता हूँ, शरीर भी क्रियाशील रहता है। मेरी (जीवन की) क्रियाएँ एक प्रकार की है। एवं शरीर की क्रियाएँ अलग प्रकार की है।

जीवन में सोचने—विचारने एवं जानने—बूझने की क्रियाएँ होती हैं। शरीर में श्वसन, रक्त प्रवाह, भूख, भोजन पचना—इस प्रकार की क्रियाएँ होती हैं।

अपनी तरफ ध्यान देने पर हम समझते हैं कि हर समय विचार कर रहे हैं, कुछ सोच रहे हैं या कहीं ध्यान दे रहे हैं। ऐसा हर क्षण होता रहता है। जब हम स्वस्थ होते हैं तब आस—पास की चीजों पर अधिक ध्यान देते हैं और जब अस्वस्थ होते हैं तो शरीर पर अधिक ध्यान देते हैं। इन दोनों स्थिति में विचार करते रहतं हैं। विचार निरंतर है। हम जिस वस्तु का विचार करते हैं वह वस्तु बदल जाती है एवं दूसरे वस्तु पर विचार करने लगते हैं। इस प्रकार विचार चलता ही रहता है। यह क्रिया कभी भी बंद नहीं होती। रात्रि सोते समय भी यह चलती रहती है। तभी तो सपने देखते हैं। सोते समय कोई परिचित व्यक्ति नाम से पुकारने पर जगते हैं। मच्छर काटने पर उसे भगाने का प्रयास करते हैं। सोते समय करवट भी बदलते हैं। ये सब मेरे द्वारा ही होता है।

शरीर में साथ चलना, भोजन पचना, रक्त दौड़ना, मांसपेशियों का हिलना—डुलना ये सब क्रियाएँ बार—बार होती है। श्वसन भी बार—बार होता है।

जीवन की क्रियाएँ निरंतर हैं, शरीर की क्रियाएँ रुक—रुककर होती हैं। जीवन की शक्ति कभी समाप्त नहीं होती, जबकि शरीर की शक्ति कम होती है, शरीर थकता है, आराम की आवश्यकता होती है। भोजन के द्वारा शरीर को पुनः शक्ति प्राप्त होती है। शरीर की शक्ति घटती—बढ़ती है। जबकि जीवन की शक्ति अक्षय है।

जो वस्तु हर समय है, निरंतर है, उन्हे समझना, जानना कहलाता है। जैसे पानी ढाल की ओर बहता है। यह हमेशा होता है। इसे हम नियम कहते हैं। हम इस नियम को समझते हैं, तो हमने इसे जान लिया।

मानने की अर्थ है— स्वीकार करना। जो वस्तुएँ बदलती रहती हैं और निरंतर रहती हैं उन सभी को हम मानते हैं, मान सकते हैं। जैसे एक स्थान पर सम्मान को व्यक्त करने के लिए पैर छूते हैं, दूसरे स्थान पर हाथ मिलाते हैं और तीसरे स्थान पर गले मिलते हैं। इस प्रकार सम्मान व्यक्त करने के तरीके में कोई समानता नहीं होती, ये स्थान-स्थान पर बदलते रहते हैं। इसी प्रकार कुछ समय पूर्व लोग भूमि पर बैठकर भोजन करना श्रेष्ठ मानते थे और आज टेबल पर बैठकर भोजन करना श्रेष्ठ मानते हैं। ये मानने के उदाहरण है, ये समय और स्थान पर बदलते रहते हैं।

पहचानने का अर्थ है पांच ज्ञानेन्द्रियों में से किसी एक या अधिक इंद्रियों द्वारा पहचानना जैसे आम के वृक्ष को पहचानते हैं। पहले यह स्वीकार्य रहता है कि धरती पर कई प्रजाति के वृक्ष होते हैं, उसमें से आम के वृक्ष को पहचानना। इस आम के वृक्ष के साथ जो श्रम किया जाता है उसे निर्वाह क्रिया कहते हैं। जैसे आम वृक्ष को सींचना, सुरक्षा करना, उसका फल तोड़ना आदि।